National Journal of
Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2026; 1(64): 192-198
© 2026 NJHSR
www.sanskritarticle.com

संजीव कुमार
शोधार्थी, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
एवं असिस्टेंट प्रोफेसर,पं.चिरञ्जीलाल-शर्मा राजकीय महाविद्यालय, करनाल।

प्रोफेसर ओमनाथ बिमली
निदेशक हिन्दू अध्ययन केंद्र एवं
आचार्य संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

Correspondence:
शोधार्थी, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
एवं असिस्टेंट प्रोफेसर,पं.चिरञ्जीलाल-शर्मा राजकीय महाविद्यालय, करनाल।

पातञ्जल महाभाष्यटीका सूक्तिरत्नाकर का ऊह सम्बधित परिप्रेक्ष्य

संजीव कुमार, प्रोफेसर ओमनाथ बिमली

सारांश :

महाभाष्य की महत्वपूर्णटीका सूक्तिरत्नाकर के इस प्रकरण से हमें विदित होता है कि वैदिक यज्ञीय परम्परा केवल अनुष्ठानों के आयोजन तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह सूक्ष्म तर्क,भाषा की दृष्टि से शुद्धता और शास्त्रीय अनुशासन पर आधारित एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है। यद्यपि यज्ञकर्म में प्रयुक्त प्रत्येक विधि, मन्त्र और उसके तत्तत उपकारक अङ्ग का निर्धारण वैदिक शास्त्रपरम्परा द्वारा स्पष्ट रूप से किया गया है, तथापि अनेक प्रसंग ऐसे भी आते हैं जब किसी विकृतियाग में उसके पूरक अङ्गों का प्रत्यक्ष निर्देश अनुपलब्ध होता है। ऐसे अवसरों पर विकृतियाग की पूर्ति हेतु मीमांसा और व्याकरण शास्त्रों में प्रतिपादित 'ऊह' की अवधारणा निर्णायक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

संस्कृत धातु "ऊह् वितर्के" से निर्मित 'ऊह' का अर्थ है - तर्कपूर्ण अनुमान, प्रसंगानुकूल कल्पना तथा विधिसम्मत परिवर्तन। यह केवल विचार मात्र नहीं, अपितु एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है जिसके माध्यम से 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' सिद्धांत के आधार पर विकृतियागों में प्रकृतियाग से अंगों और मन्त्रों का तर्कसंगत अतिदेश किया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ऊह को व्याकरण अध्ययन का एक प्रमुख प्रयोजन माना, क्योंकि मन्त्रों के नाम, लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदि में यथायोग्य परिवर्तन केवल व्याकरणज्ञान से ही संभव है।

इस प्रक्रिया में शास्त्रीय तर्क, शब्दों का विपरिणाम और वैदिक अनुशासन का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। ऊह के द्वारा यज्ञकर्म की शुद्धता और पूर्णता तो सुनिश्चित होती ही है साथ ही वैदिक परम्परा की अखण्डता भी संरक्षित रहती है। यही कारण है कि मीमांसा दर्शन, व्याकरण और यज्ञविधि इन सभी क्षेत्रों में 'ऊह' को एक अनिवार्य और विशिष्ट तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी ऊह की अवधारणा, प्रकार, प्रक्रिया, निषेध (अनूह), वैदिक उदाहरणों और इसकी फलश्रुति के व्यापक विवेचन पर केंद्रित है।

कूटशब्दाः

ऊह, अनूह, प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या, मन्त्रोह, मीमांसा दर्शन, महाभाष्य, पतञ्जलि, व्याकरण, सूक्तिरत्नाकर, यज्ञविधि, प्रकृतियाग, विकृतियाग, आकांक्षात्रय, मन्त्र- विपरिणाम, साधु शब्द, वैदिक अनुशासन, शास्त्रीय तर्क, यथायथम्, आर्त्विज्यलाभ, ऐहिकसुख।

भूमिका: पतञ्जलिकृत महाभाष्य में 'ऊह' संस्कृत-व्याकरण के अध्ययन के मुख्य प्रयोजनों में परिगणित तो है ही साथ ही यह मीमांसा दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत भी है, जो वैदिक यज्ञों में मंत्रों और विधियों के शास्त्रसम्मत प्रयोग को सुनिश्चित करता है। पतञ्जलिकृत महाभाष्य की महत्त्वपूर्ण टीका 'सूक्तिरत्नाकर' में जो ऊह विषयक चर्चा मिलती है उसके अनुसार ऊह शास्त्रीय अतिदेश एवं तर्कपूर्ण निर्णय की प्रक्रिया है, जो विशेष रूप से विकृतियागों में प्रकृतियाग से मंत्रों और विधियों के ग्रहण में उपयोगी होती है। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' सिद्धान्त के आधार पर, ऊह द्वारा मंत्रों का लिंग, वचन

और देवता आदि के अनुसार यथाप्रसङ्ग विपरिणाम किया जाता है। यह प्रक्रिया न केवल याग की शुद्धता और प्रासंगिकता को बनाए रखती है, अपितु व्याकरण के अध्ययन को भी अनिवार्य बनाती है, क्योंकि केवल वैयाकरण ही साधु शब्दों के प्रयोग द्वारा मन्त्रों का शास्त्रसम्मत ऊह कर सकता है। इस लेख में महाभाष्य की महत्त्वपूर्णटीका सूक्तिरत्नाकर के परिप्रेक्ष्य में ऊह की अवधारणा,प्रयोजन इसके विभिन्न प्रकार के ऊह एवं अनूह सम्बंधित उदाहरण और शास्त्रीय महत्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ऊह की अवधारणा: 'ऊह' शब्द संस्कृत की 'ऊह् वितर्के'[1] धातु से बना है, यह आत्मनेपदी, सेट, सकर्मक धातु है। इससे 'घञ्' प्रत्यय के योग से बना यह 'ऊह' शब्द तर्क करना, कल्पना करना, अवधारणा करना तथा तर्कपूर्ण अनुमान करना जैसे अर्थों में प्रयुक्त होता है। संस्कृत वाङ्मय तथा कोशग्रंथों[2] में 'ऊह' के पर्यायवाची शब्दों में - अध्याहारः, तर्कः, वितर्कः, ऊहनम्, प्रतर्कणम्, परीक्षणं, सिद्धिः, भेदः आदि शब्द मिलते हैं, ये सभी शब्द विचार, परीक्षण और तर्कपूर्ण विधि से किसी निर्णय तक पहुँचने की क्रिया को दर्शाते हैं। अतः इन सभी अर्थों का सार यह है कि जब किसी तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जाना जा सकता, तब विधिसम्मत तर्क के द्वारा उसके स्वरूप का निर्णय करना ही 'ऊह' कहलाता है। वैदिक वाङ्मय और मीमांसा दर्शन के अनुसार ऊह का प्रयोग तब प्रासङ्गिक होता है जब वेदविहित किसी यज्ञीय विधि या मंत्र के प्रयोग का प्रसङ्ग,प्रकरण,लिङ्ग,विभक्ति,वचन इत्यादि पूर्णतया उपदिष्ट न हों। जितना यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि जिस प्रकरण में जो मंत्र जैसे जिस भी रूप में उपदिष्ट हैं उनका वैसे ही रूप में प्रयोग करना इष्ट होता है, उतना ही यह तथ्य भी निर्विवाद है कि प्रकृतियाग में ऊह का अभाव होने पर भी विकृतियाग में ऊह का प्रयोग अनिवार्य होता है। इस बात को समझने के लिए मीमांसा-दर्शन के आकांक्षात्रय का संक्षिप्त उल्लेख उचित है।

आकांक्षात्रय - मीमांसा दर्शन के अनुसार श्रौत यज्ञों के उचित विधान के लिए साध्य,साधन और इतिकर्त्तव्यता के ज्ञान को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। शाब्दी भावना के प्रकरण में निम्नलिखित तीन अंशों का वर्णन प्राप्त होता है ये तीनों ही आकांक्षात्रय कहलाते हैं-

1.साध्य: किं भावयेत् ? अर्थात् क्या सिद्ध किया जाए? साध्य की आकांक्षा होने पर स्वर्गादि फल का ही साध्य के रूप में अन्वय होता है। **2 साधन:** केन भावयेत् ? अर्थात् किससे सिद्ध किया जाए? साधनाकांक्षा होने पर यागादि का करण के रूप में अन्वय होता है। *3* इतिकर्त्तव्यता: कथं भावयेत् ? अर्थात् कैसे सिद्ध किया जाए ? इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाजादि अङ्गों का अन्वय हो जाता है। जब किसी याग में इतिकर्त्तव्यता या कोई विधि उपदिष्ट नहीं होती, तब प्रकृतियाग से विकृतियाग में उसका उचित अतिदेश किया जाता है। यह **'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'**[4] सिद्धांत पर आधारित होता है है, इस सिद्धान्त के अनुसार विकृतियाग को भी प्रकृतियाग के समान ही सम्पन्न किया जाता है। प्रकृतियाग की अपेक्षा विकृतियाग में मन्त्रों या पदार्थों का किन्हीं-किन्हीं प्रकरणों में प्रत्यक्ष उल्लेख उपदिष्ट नहीं होता, तो भी वे ऊह और तर्कयुक्त अतिदेश से प्रकृतियाग से विकृतियाग में ग्रहण किए जाते हैं। ऊह नामक व्याकरण अध्ययन के इस मुख्य प्रयोजन के मर्म को जानने के लिए श्रौतयज्ञ के निम्न प्रकारों का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ प्रसंगानुकूल है -

श्रौत यज्ञों के प्रकार - मीमांसा में ऊह का अर्थ है उन यज्ञ विधियों का तर्कपूर्ण अतिदेश से यथाप्रसङ्ग प्रयोग करना जो शास्त्र में स्पष्टतया उपदिष्ट न हों। इसके लिए श्रौत यज्ञों के इन प्रकारों को जानते हैं -

प्रकृतियाग - पूर्ण विधियों एवं अङ्गों सहित उपदिष्ट याग, जैसे दर्शपौर्णमासयाग, जो अन्य यागों के लिए आधार होते हैं।

विकृतियाग - अनुपदिष्ट विधियों एवं अङ्गों वाले याग, जो अपनी पूर्ति के लिए प्रकृतियाग से विधियों एवं अङ्गों को ग्रहण करते हैं, जैसे सौर्येष्टियाग।

प्रकृति-विकृति याग - ऐसे याग जो विकृति होते हुए बाद में प्रकृति बन जाते हैं, जैसे चातुर्मास्ययाग का वैश्वदेव पर्व। **यावदुक्त याग** - न तो विधि ग्रहण करता है, न देता है यह केवल शास्त्र में बताए अनुसार होता है। अतः जब किसी याग में प्रत्यक्ष विधि उपदिष्ट न हो, तब ऊह द्वारा ही प्रकृतियाग से विधियों एवं अङ्गों को ग्रहण कर विकृतियाग की पूर्ति उसके प्रकृतियाग के अनुसार की जाती है[5]।

प्रकृतिविकृतिभाव का अवगमन - यहाँ शंका रहती है कि कौन-सा याग किसका प्रकृतियाग या विकृतियाग है[6] ? इसका समाधान यह है कि प्रकृतियाग और विकृतियाग के भाव का अवगमन उनके देवता, औषधि-द्रव्य और अन्य तत्वों के साम्य से होता है।[7] जैसे आग्नेय और सौर्ययाग में प्रकृतिविकृतिभाव का बोध एकदेवत्यत्व और औषधद्रव्यत्व के साम्य से होता है। और दर्शयाग और पूर्णमासयाग में यह भाव द्विदेवत्यत्व और पशुद्रव्यत्व के साम्य से स्पष्ट होता है। देवताओं की संख्या और प्रयोग किए जाने वाले औषधि-पशु इत्यादि पदार्थों के आधार पर यागो के प्रकृति-विकृति संबंधका ज्ञानहोता है।[8]

मीमांसा दर्शन के अनुसार ऊह का प्रयोजन - मीमांसा के अनुसार, ऊह का प्रयोजन ऐसे विकृतियाग में उपयुक्त होता है जहाँ प्रत्यक्ष उपदेश नहीं मिलता, वहाँ प्रकृतियाग से प्राप्त विधियों, मन्त्रों और पदार्थों का तर्कसंगत अतिदेश करना होता है। प्रकृतियाग में यज्ञविधि आकांक्षात्रय से पूर्ण एवं मन्त्र स्पष्ट उपदिष्ट होते हैं, जबकि विकृतियाग में ये अनुपलब्ध होते हैं। अतः विकृतियाग में प्रकृतियाग की विधियों और मन्त्रों को 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' के सिद्धांत से ग्रहण किया जाता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ऊह का प्रयोजन - व्याकरण अध्ययन के मुख्य प्रयोजनों में 'रक्षा' के बाद 'ऊह' का भी विशेष महत्व है। पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है कि वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों और सभी विभक्तियों के साथ पूर्ण रूप से उपदिष्ट नहीं हैं, इसलिए याज्ञिक को यथाप्रसङ्ग मंत्रों में आवश्यक विपरिणाम अर्थात् ऊह करना होता है। चूंकि अवैयाकरण इस कार्य को करने में सक्षम नहीं होता, इसलिए यागकर्मगत ऊह करने की क्षमता पाने के लिए व्याकरण अध्ययन आवश्यक है[9]।

'ऊहः खल्वपि' का भावार्थ - महाभाष्य में 'ऊहः खल्वपि' वाक्य का प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि ऊह भी व्याकरण अध्ययन का एक प्रमुख प्रयोजन है। उद्द्योतकार इस वाक्य को "रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" वाले वाक्य से जोड़ते हुए 'अनन्तरेण संबन्धः स्यात्

परस्याप्यनन्तरे' इस न्याय के अनुसार 'ऊह' की संगति 'प्रयोजनम्' पद से करते हैं, भले ही बीच में अन्य पद व्यवधान रूप हों। महाभाष्य की महत्वपूर्ण टीका 'सूक्तिरत्नाकर' में इस वाक्य को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है **'ऊहः खल्वपि अधीतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनम्'**[10] अर्थात ऊह भी निश्चित रूप से व्याकरण अध्ययन करने का एक मुख्य प्रयोजन है। एक उचित शंका यहाँ यह है कि - 'व्याकरणस्य' इस षष्ठी विभक्त्यन्त पद का 'रक्षा' और 'ऊह' से संबंध कैसे माना जाए, जबकि महाभाष्यकार ने **'रक्षार्थम् वेदानामध्येयं व्याकरणम्'**[11] इस वाक्य में व्याकरणम् पद का प्रयोग किया है? इसका समाधान यद्यपि यह दिया गया है कि **'अनन्तरेण संबन्धः स्यात् परस्याप्यनन्तरे'** इस न्याय के अनुसार व्यवधान होते हुए भी व्याकरण और ऊह के बीच सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है, तथापि ऐसा प्रयोग अश्रुत अर्थात् दुर्लभ ही है[12]। अतः ऊह को भी व्याकरण अध्ययन का प्रमुख प्रयोजन मानते हुए, परम्परागत टीकाकारों ने उसका प्रामाणिक और तर्कसम्मत अन्वय 'प्रयोजनम्' पद से स्थापित किया है।

मन्त्रोह में व्याकरण की उपादेयता - वेदविहित श्रौतयज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों की शुद्धता एवं उपयुक्तता सुनिश्चित करने के लिए व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि याग में प्रयुक्त व्रीहि आदि द्रव्यों के रूप, संस्कार एवं व्यवहार में ऊह करने के लिए व्याकरण का विशेष योगदान नहीं होता, तथापि मन्त्रों के ऊह में व्याकरण की महती उपादेयता है[13]। इसी कारण महाभाष्यकार ने 'मन्त्रा निगादिताः' में मन्त्राः पद द्वारा मन्त्र की विशेषता एवं महत्व को प्रकट किया है। प्रकृतियाग में मन्त्रों के रूप स्पष्ट रूप से उपदिष्ट होते हैं, किंतु विकृतियाग में वही मन्त्र सामान्यतः पूर्ण विधियों एवं यागाङ्गों से युक्त नहीं मिलते। तब यज्ञकर्त्ता को प्रकृतियाग के अनुरूप मन्त्रों का विपरिणाम करना होता है, और यह कार्य व्याकरण के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। इस प्रसंग में यह शंका उठती है कि जब मन्त्रों के स्वरूप, देवता-द्रव्य ज्ञान, ऊह्य-अनूह्य भेद आदि लोकप्रसिद्ध या वेदविहित साधनों से भी ज्ञेय हैं, तो फिर व्याकरण का क्या प्रयोजन?[14] जैसा कि सूक्तिरत्नाकरटीका में कुमारिलभट्ट के कथन को उद्धृत किया है[15] , जिसका भाव है कि जब बिना व्याकरण के ही अधिकतम यागकर्मों की पूर्ति लोक एवं वेद से हो जाती है तो ऊह किया जाने योग्य पद कैसे वहाँ अर्थात् लोक एवं वेद में नहीं मिलेगा। और यदि ऊहार्थ अर्थात् शब्दों के ऊह की सिद्धि के लिये व्याकरण का प्रयोजन सिद्ध करना चाहो तो यह तर्क भी उचित नहीं है क्योंकि ऊह की भी ऊह्य एवं अनूह्य विभाग के समान अन्य से सिद्धि हो जाती है[16]। सूक्तिरत्नाकर में किन्हीं ऊह के आशय के जानकार का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि - यह मन्त्रोह से सम्बंधित सामग्रीक्लेश व्याकरण में है क्या ? जो बिना समीक्षा किए ही खुले शब्दों में ऊह की सिद्धि में व्याकरण को प्रयोजन कहा गया है?[17] उपर्युक्त शंकाओं का समाधान व्याकरण की विशिष्टता से इसलिए मिलता है क्योंकि साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए इस नियम के अनुसार असाधु शब्दों का प्रयोग अनुचित होता है,और साधु व असाधु शब्दों के विभागज्ञान का साधन व्याकरण ही है। साधु-असाधु शब्दों के विवेक, प्रकृति, प्रत्यय, लिङ्ग, विभक्ति आदि के नियमों के अभाव में कोई व्यक्ति मन्त्र के शब्दों इत्यादि का विपरिणाम नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए 'मा भेर्या संविक्था'[18] इस पुरोडाश अवदान के मन्त्र का धानों के विनियोग के प्रकरण में 'मा भैष्ट मा संविग्ध्वम्' इत्यादि प्रयोगों में ऊह का 'देवीरापः शुद्धाः स्थ' इसके जल के प्रकरण में विनियुक्त मन्त्र का आज्यविनियोग के प्रकरण में प्रयोग होने पर 'देवाज्य शुद्धमसि' ऐसा इस प्रकार का प्रयोग प्रकृति,प्रत्यय,लिङ्गादि से अनभिज्ञ के द्वारा करने में अशक्यता से, वह ऊह उस व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन ही है ऐसा जानना चाहिए[19]। इसलिए **'तान्नावैयाकरणः'**[20] पद के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि अवैयाकरण के द्वारा मन्त्रों के पदों को यथायथ विपरिणमित करना दुष्कर होता है । जैसे प्रत्यक्ष श्रुतिमूल स्मृति भी धर्मावगमन में प्रमाण होती है,वैसे ही व्याकरण का भी ऊह करने में प्रयोजन सिद्ध होता है[21]। अतः यह स्पष्ट है कि ऊह की सिद्धि में साधु और विधिसम्मत पदों का चयन केवल व्याकरणज्ञ के द्वारा ही किया जा सकता है। अतः मन्त्रों के ऊह में व्याकरण का प्रयोग केवल उपयोगी नहीं, बल्कि अनिवार्य है।

यथायथम् शब्द के प्रयोग का औचित्य - महाभाष्य में 'यथायथम्' पद का प्रयोग इस बात को दर्शाने के लिए किया गया है कि विकृतियाग में मन्त्रों का ऊह देवता, द्रव्य, लिङ्ग, विभक्ति आदि के अनुसार यथासंगति किया जाना चाहिए। प्रकृतियाग में मन्त्रों का अर्थप्रकाशन होता है, जबकि प्रकृतियागगत अतिदिष्ट मन्त्रपदों से विकृतियाग में अपेक्षित अर्थप्रकाशन सम्भव नहीं होता। अतः वहाँ समर्थ शब्दों द्वारा उचित विपरिणाम आवश्यक होता है। इसलिए 'यथायथम्' शब्द ऊह के शास्त्रसम्मत, क्रमबद्ध और विवेकपूर्ण प्रयोग को स्पष्ट करता है।[22] और दूसरा प्रयोजन इस पद का यह है कि ऊह यथाकथञ्चित् भी नहीं होता है, अपितु यागगत मुख्यार्थ एवं अमुख्यार्थ आदि के भेद से ऊह होता है[23] क्योंकि महाभाष्य में 'यथायथम्' पद का प्रयोग केवल साधारण या किसी भी प्रकार के ऊह को स्वीकार न करने पर बल देता हुआ यह दर्शाता है कि ऊह एक विवेकसम्मत, शास्त्रानुशासन पर आधारित प्रक्रिया है, जो एक नियत क्रम, सन्दर्भ और प्रयोजन के अनुसार की जाती है। यदि ऊह को यथाकथञ्चित् अर्थात् किसी भी प्रकार से स्वीकार कर लिया जाए, तो शास्त्रीय अनुशासन और अर्थ का विन्यास नष्ट हो जाएगा। अतः 'यथायथम्' शब्द यह स्पष्ट करता है कि ऊह शास्त्रीय औचित्य, सन्दर्भगत साम्य और उपयुक्तता के अनुसार ही होना चाहिए, न कि स्वेच्छाचार से।

ऊह द्वारा घटित पद के मन्त्रत्व पर विचार - यहाँ एक महत्वपूर्ण शङ्का उपस्थित है कि ऊह विधि से जो पद विकृतियाग में प्रयुक्त होता है, वह यदि अनधीत अर्थात् वेद में न पढ़ा गया है तो उस पद को मन्त्रत्व कैसे प्राप्त होगा ? क्योंकि आपस्तम्ब के **'अनाम्नाताः**[24] अमन्त्राः' तथा जैमिनि के **'अनाम्नातेषु अमन्त्रत्वम्'**[25] जैसे वाक्यों के अनुसार वेद में अनाम्नात जो उल्लिखित न हो ऐसे किसी भी पद को मन्त्र नहीं माना जाता। और अमन्त्र का वेदत्व भी नहीं होता ऐसी छान्दस विधि है[26]।

इसके समाधान हेतु कहा है कि यह शंका सही होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है। यद्यपि ऊह से जो पद प्रयुक्त होता है, वह स्वतंत्र रूप से आम्नात नहीं है, फिर भी जब वह पूर्ववर्ती मन्त्रों के समुदाय का एकदेशविकृत अर्थात् किसी एक भाग का परिवर्तन रूप होता है, तो एकदेशविकृतन्याय तथा मल्लग्रामादिवत्[27] प्रत्यभिज्ञान से वह सम्पूर्ण समुदाय मन्त्ररूप बना रहता है। जैसे - यदि मन्त्र में केवल एक पद जैसे 'अग्नये' को विपरिणमित कर 'सूर्याय' कर दिया जाए, तो शेष मंत्रवाक्य पूर्ववत् रहता है। इस अल्पविकृति के हो जाने पर भी, शेष वाक्य की पूर्व-अधीतता और प्रयोग से उस सम्पूर्ण वाक्य की मन्त्रता मान्य होती है, केवल विकृत पद अमन्त्र होता है, सम्पूर्ण नहीं। अतः ऊह से निर्मित पद, जब पूर्व-अधीत मन्त्रसमुदाय में जुड़कर प्रयोग होता है, तो उसके मन्त्रत्व और वेदत्व दोनों प्रतिपाद्य होते हैं[28], जिससे याग आदि कर्म में उसका प्रयोग भी शास्त्रसम्मत माना जाता है[29]।

महाभाष्य में प्रदत्त ऊह के प्रयोग का वैदिक उदाहरण - महाभाष्य में प्रदत्त 'ऊह' के तत्त्वबोध को कैयट ने प्रदीप में वैदिक उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है[30], जिसमें प्रकृतियाग अर्थात् आग्नेययाग के मन्त्र **'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि'**[31] के 'अग्नये' पद का विकृतियाग अर्थात् सौर्ययाग में सूर्यदेवता सम्बन्धित अर्थ के प्रकाशन में असामर्थ्य होने से अनुपयुक्त होना बताया गया है। सौर्ययाग में देवता सूर्य है, अतः वहाँ 'अग्नये' पद का प्रयोग उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह सूर्य देवता अर्थ का प्रकाशन नहीं कर सकता[32]। इस स्थिति में मन्त्र का अर्थ सुरक्षित रखने हेतु 'अग्नये' पद के स्थान पर 'सूर्याय' पद का प्रयोग किया जाता है, जिससे मन्त्र बनता है - **'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि'**[33] यहाँ पूर्ण 'अग्नये' पद को विपरिणमित कर 'सूर्याय' पद का प्रयोग होता है। यही प्रक्रिया ऊह कहलाती है इसमें पूर्व में पठित पद को प्रसङ्गानुसार अर्थसंगत और देवतायुक्त नये पद से बदला गया है। इस ऊह में केवल प्रत्ययस्तर जैसे 'ए' की जगह 'य' का परिवर्तन नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण पद का संरचनात्मक और अर्थगत परिवर्तन होता है[34], जिससे मन्त्र की प्रासङ्गिकता बनी रहती है। अतः स्पष्ट है कि सौर्ययाग में 'अग्नये' के स्थान पर 'सूर्याय' पद का उपयोग, मन्त्र में ऊह की प्रक्रिया द्वारा हुआ परिवर्तन है[35]। यह प्रकृत्यूह का उदाहरण है[36]। एकाररूप प्रत्यय ऊह तो आन्तरीयक नहीं है, उसके अर्थ के बाधारहित होने से । इससे 'सोऽयमुभयोहः' यह मत भी अपास्त हुआ[37] माना जा सकता है।

ऊह के कतिपय अन्य उदाहरण - मीमांसादर्शन के अनुसार ऊह तीन प्रकार का होता है - मन्त्रोह, सामोह और संस्कारोह। अन्येऽप्यूह्याः इस पंक्ति का अनुसरण करते हुए यहाँ अन्य लिंङ्ग,वचन इत्यादि के भी कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

1. प्रातिपदिक में ऊह - 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' प्रकृतियाग में होता है जबकि सौर्ययाग अर्थात् विकृतियाग में 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' होता है,यहाँ 'अग्नये' के स्थान पर 'सूर्याय' पद का प्रयोग नाम के ऊह का उदाहरण है,यह मन्त्रोह का भी उदाहरण है।

2. लिङ्ग में ऊह - 'देवीरापः शुद्धाः वोढ्वम्'[38] यहाँ स्त्रीलिङ्ग है किन्तु जब मन्त्र अन्य प्रसङ्ग में आज्य के लिए प्रयुक्त होगा तब 'देवाऽऽज्य शुद्धो वहस्व' में पुंल्लिङ्ग में विपरिणमित होगा, यह वचनोह का भी उदाहरण है[39]। अन्य उदाहरण 'वस्वसि रुद्रास्यदितिरस्य' इस स्त्रीलिङ्ग से 'वसुरसि रुद्रोऽसि' पुंल्लिङ्ग में ऊह होता है। लिङ्ग में ऊह का एक अन्य उदाहरण महाभाष्य की टीका सूक्तिरत्नाकर में दिया गया है - सोमक्रय साधन एकहायनीय प्रकाशक 'वस्वसि रुद्रास्यदितिरस्यादित्यासि शुक्रासि चन्द्रासि इस स्त्रीलिङ्ग पद से युक्त मन्त्र में साद्यस्क्रों में सोमयाग प्रकृतिकों में प्रत्यक्ष उपदिष्ट क्रयसाधन साण्डप्रकाशन के लिए प्राप्त होने पर 'वसुरसि रुद्रोऽसि' इत्यादि पुंलिङ्गप्रकाशक प्रत्ययविशेष कहीं पर ऊह किया जाता है[40]।

3. वचन में ऊह - 'छागस्य वपाया मेधसोऽनुब्रूहि'[41] इस एकवचन से युक्त मन्त्र का बहुवचन के प्रसङ्ग में 'छागानाम् वपाया' इस प्रकार विपरिणमित प्रयोग होता है। वैश्वदेवयाग के सन्दर्भ में 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः'[42] यह एकवचन की जगह बहुवचन का उदाहरण है।

4. वचन एवं लिङ्ग दोनों का ऊह - 'मा भैः मा संविक्थाः' धान्य याग में 'मा भैष्ट मा संविग्ध्वम्' में एकवचन से बहुवचन व लिङ्ग परिवर्तन भी होता है।

अतः इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ऊह की प्रक्रिया मन्त्रों में नाम, लिङ्ग,वचन आदि के विपरिणाम से होती है। यह परिवर्तन यथाकथञ्चित् रूप से नहीं किया जा सकता, अपितु याज्ञिक संदर्भ, देवता, प्रयोजन एवं औपदेशिक आदेशों के आधार पर ही किया जाता है। इससे मन्त्रों का प्रासङ्गिक,उपयुक्त एवं शुद्ध प्रयोग सुनिश्चित होता है, और याग के अंगों की पूर्णता होती है। अतः ऊह केवल तात्कालिक भाषा-विन्यास नहीं, अपितु एक शास्त्रीय प्रक्रिया है जो वेद और यज्ञकर्म के प्रामाण्य को बनाये रखती है।

ऊहज्ञ ऋत्विक द्वारा मन्त्र एवं मन्त्रांश की निवृत्ति - उपकार के असंभव होने से सामान्य से अतिदिष्ट होने पर भी किन्हीं-किन्हीं मन्त्रों की निवृत्ति साकल्य से या एकदेश से होती है । इसी अर्थ को दर्शाने के लिए कहा है इतिकर्त्तव्यता में भावना के आकांक्षा सहित होने से । इसी मूल अर्थ वाली ही 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' ऐसी मीमांसकों की सरणि अर्थात् सिद्धान्त है । इसे सरल शब्दों में समझें तो जैसे राम ने रावण को बाण से सीता के लिए मारा। इस वाक्य में मारने की क्रिया की निष्पत्ति में राम कर्तृतया,बाण करणतया,सीता सम्प्रदानतया आदि से उपकारक हैं; इसी तथ्य को यदि प्रकृतियाग के सन्दर्भ में जाने तो प्रकृतियाग विभिन्न अङ्ग होते हैं और इन अङ्गों के द्वारा किये जाने वाले उपकार भी भिन्न-भिन्न होते हैं और ये अङ्ग जिस-जिस उपकार से इस याग को उपकृत करते हैं वह-वह अङ्गसमूह उस-उस उपकार के द्वारा वैसा ही उपकारक विकृतियागगत इतिकर्त्तव्यता की पूर्ति हेतु प्राप्त होता है। और वहाँ विकृतियाग में सामान्य से व अतिदेश से प्रकृतियाग में प्राप्त तत्तत प्रकरण के सभी अङ्गों को क्लृप्ततया पहले से ही ग्रहण कर लिया गया है ऐसे सन्दर्भ में इन संभावित प्राप्त अङ्गों में से किन्हीं-किन्हीं अङ्गों से सम्बन्धित क्रिया इत्यादि का अभाव होने से विकृतियाग में ये अङ्ग उपरुंधद्वार अर्थात् अवरुद्ध-प्रकरण वाले हो जाते हैं, अतः इन प्राकृतयागगत अङ्गों की निवृत्ति विकृतियाग में प्रकरण के बाध होने से व उनका सन्दर्भ न रहने हो जाती है। यदि विकृतियाग में कोई अङ्ग उपकारक नहीं रहता, तो उस अनुपकारक को अङ्ग भी नहीं माना जाता 'नानुपकारकमङ्गं भवति' इस सिद्धांत के अनुसार।

यथा प्रकृतियाग में 'व्रीहीनवहन्ति' इस मन्त्र का प्रयोग वैतुष्य अर्थात् तुष निकालने जिसे तुषविमोक भी कहते हैं में होता है। यह उपकारक होने से अवघात अर्थात् कूटने की क्रिया में विधेय अङ्ग बनता है। किन्तु कृष्णलयाग जो कि एक विकृतियाग है उसमें व्रीहि के स्थान पर घुघुंची का पौधा जिसे कृष्णल कहते हैं का प्रयोग होता है, और क्योंकि कृष्णल में तुष होता ही नहीं है, अतः तुष निकालना भी रेत से तेल निकालने की भांति सम्भव नहीं है। इस कारण अवघात का उपकार नहीं रह जाता और 'व्रीहीनवहन्ति'[43] मन्त्र की आवश्यकता नहीं होती अतः वह निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार 'अवहतं रक्षो दिवः सपत्नं वध्यासम्'[44] यह मन्त्र भी तब निवृत्त हो जाता है जब उसका सम्बन्धित उपकार अवघात आदि भी विकृतियाग में नहीं होता[45]। अतः ऊहज्ञ ऋत्विक को यथाप्रसङ्ग मन्त्रों या उनके अंशों की निवृत्ति भी तब करनी होती है जब विकृतियाग में वे न उपकार करते हैं, न ही उनके प्रयोग की आवश्यकता रह जाती है। अतः ऊह का यह पक्ष भी शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

ऊह की निषिद्धता वाले स्थलों के कतिपय उदाहरण - ऊह भी कुछ निश्चित् शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार ही मान्य होता है। और ऐसा भी नहीं है कि याग से संबंधित सभी संभावित प्रसंगों में ऊह अनिवार्य रूप से होता ही है; अपितु कुछ ऐसे यज्ञीय प्रसंग भी होते हैं जहाँ ऊह न होकर 'अनूह' अर्थात् ऊह का निषेध ही शास्त्रसम्मत माना जाता है। ऐसे अनूह के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं -

(1) प्रकृतियाग में जो शब्द मुख्यार्थ में प्रयुक्त होते हैं, वे ही यदि किसी विशेष गुण के कारण अन्य रूप में भी प्रयोग हों, और वह कार्य यदि तत्काल संभव न हो, तब भी उसका अर्थ स्थिर रहता है। ऐसा प्रयोग गुणवाद और सामर्थ्य के सिद्धांत से उपयुक्त और अर्थ में अविकृत माना जाता है। जैसे- ज्योतिष्टोम याग में एकहायनीय अर्थात् एक दिन सम्पन्न होने वाले याग में मन्त्र है - 'इयं गौस्तया ते क्रीणामि तस्यै शृतं तस्यै शरः' वहाँ एकहायनीत्व से उबालना,सुखाना आदि क्रियाओं के असम्भव होने पर भी शृतादियों का कालान्तर में हो सकने वाले गुणवाद से स्तुत्यर्थ का अवगम उपादान से होता है। 'साद्यस्क्रे साण्डस्त्रिवर्षः सोमक्रयणः' यहाँ भी अण्डं अर्थात् अण्डे को जन्म दिए जाने वाली गाय में संभावित शृतादियों के स्तुत्यर्थ का उपादान से संभव होने से अविकृतप्रयोग अर्थात् अविपरिणमित प्रयोग होता है[46]।

(2) यदि किसी शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ में नहीं हुआ हो, और न ही वह किसी विधि से उपादान हुआ हो, तो भी ऊह नहीं किया जा सकता। जैसे 'इमं यज्ञमवान्येव यज्ञपतिं वर्धान्' इस मंत्र में वर्धन करने वाले उपहूत होते हुए भी कौन हैं, कितने हैं यह स्पष्ट नहीं हैं । लेकिन पूर्व प्रकरण या वाक्य में यज्ञपति शब्द यदि किसी विधि में स्पष्ट रूप से बहुवचन में प्रयुक्त हुआ हो, तो उसी के आधार पर विकृतियाग में भी बिना ऊह किये बहुवचन में ही प्रयोग होगा[47]।

(3) वैसे 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र में सवित्रादियों का कर्म में असमवाय से प्रकृतियाग में भी अदृष्टार्थ ही उपादान है। और न मान्त्रवार्णिक देवता की कल्पना है, परार्थ के ही उपात्तत्व होने से। उससे विकृतियाग में भी प्रकृतियाग के समान समवेताभिधान के सम्भव होने से सवित्रादि का अनूह ही है[48]।

(4) तथा 'अन्वेनं माता मन्यतामनु पिता' यहाँ मातृपितृ शब्दों का बहुषु पशुषु । 'न माता वर्धतां न पिता' ऐसे ऊह के निषेध से अनूह है। तथा 'उदीचीनामस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयतात्' इसके वाजपेय यज्ञ में बहुत से पशुओं के ऊह में उनसे संबधित होने से चक्षु आदि की बहुत्व प्रतीति से चक्षु आदि का अनूह ही है[49]।

(5) तथा 'श्येनमस्य वक्षः कृणुतात्'[50] इस उदाहरण में श्येन के अविकृत प्रयोग की ही उपमानत्व में प्रसिद्धि से अनूह ही है[51]।

भर्तृहरि का यह कथन भी इस तथ्य की पुष्टि करता है -

'अङ्गानि ज्ञातिनामानि उपमा चेन्द्रियाणि च ।
एतानि नोहं गच्छन्ति अध्रिगौ विषमं हि तत् ।।'[52]

(स्वोपज्ञ टीका 1.6)

अर्थात् अङ्ग, ज्ञातिनाम, उपमा और इन्द्रियाँ ये ऊह का विषय नहीं हैं (नोहं गच्छन्ति) वह अध्रिगौ विषम ही है। कुमारिल भट्ट ने भी कहा है -

'मुख्यदृष्टार्थतास्वार्थसमवेतार्थतादिभिः । प्रयुक्ताः प्रकृतौ मन्त्रा गताः कार्यातिदेशतः ।।
विकारे प्रतिषिद्धौहाः कार्यापन्नेषु पञ्चधा। अर्थान्तरेष्वपूर्वार्थद्वारेणोहं व्रजन्ति न ।।'[53]

अर्थात् मुख्यदृष्टार्थता स्वार्थसमवेतार्थता आदियों के द्वारा प्रकृतियाग में कार्यातिदेश में प्रयुक्त किये गए मन्त्र विकार में प्रतिषिद्ध ऊह कार्यापन्नों में पञ्चधा होते हैं। अर्थान्तरों में पूर्वार्थद्वारा ऊह को प्राप्त नहीं होते हैं (व्रजन्ति न)।

कार्यापत्ति भी कही गयी है -

'प्रत्यक्षविधिनाभावे विधानेन विकारतः।
स्वशब्दाच्च निषेधानुवादात् तत्कार्यकारिता ।।'[54]

अर्थात् प्रत्यक्ष विधि के द्वारा अभाव में विधान के द्वारा विकार से और अपने शब्द से निषेध के अनुवाद से उसकी कार्यकारिता है। ऐसा जानना चाहिए।

अतः उह एवं अनूह के उपर्युक्त उदाहरणों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि ऊह का प्रयोग न तो स्वतंत्र कल्पना है, न ही किसी भी प्रयोक्ता का इसमें असीम अधिकार है । यह तभी संभव होता है जब प्रकृतियाग में पूर्वप्रयुक्त शब्द का मुख्यार्थ में उपादान, गुण, सामर्थ्य , तथा कर्मसंबंध से प्रयोग हो चुका हो। अन्यथा, मात्र अनुमान के द्वारा अर्थ ग्रहण एवं शब्दप्रयोग करना शास्त्रविरुद्ध माना जाता है।

ऊहज्ञता का फल - ऊहज्ञ का आर्त्विज्यलाभ से द्रव्यप्राप्तिद्वारा ऐहिकसुख की सिद्धि रूप फल होता है ऐसा जानना चाहिए[55]। नागेश के 'ऊहज्ञस्य हि आर्त्विज्यलाभेन' वाक्य में 'हि' पद का अर्थ 'और' है, जो सिद्धि पद के उत्तर में अन्वित होता है। इससे पहले इसी प्रकार से स्वर्गसुख आदि का समुच्चय फल के रूप में सूचित होता है। अतः इस व्यवस्था से पूर्व भी ऐहिकसुख की सिद्धि के फलत्व का संकेत मिलता है। फिर भी, इस परम्परा में साक्षात फल प्राप्ति की बाधा के कारण इस दृष्टिकोण पर मतभेद विद्यमान हैं[56]। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऊहज्ञता से ऐहिकसुख और अन्य प्रकार के सुखों की प्राप्ति सम्भव है।

निष्कर्ष - महाभाष्यटीका सूक्तिरत्नाकर में वर्णित ऊह सम्बंधित प्रकरण हमें यह बताता है कि ऊह वैदिक यागों एवं मीमांसा दर्शन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जिसका प्रयोग तब आवश्यक होता है जब विकृतियागगत कर्म की पूर्ति हेतु शास्त्र में कोई विधि या मन्त्र पूर्णतया उपदिष्ट न हो। ऊह केवल अनुमान पर आधारित नहीं है, अपितु शास्त्रीय तर्क, साम्य, प्रसङ्ग और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध पदविन्यास पर आधारित एक विधिवत् प्रक्रिया है। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' सिद्धांत के अनुसार विकृतियागों में प्रकृतियाग के मन्त्रों व

विधियों का शास्त्रीय रूप में ऊह किया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार वैयाकरण ही मन्त्रों का शुद्ध ऊह कर सकता है। ऊह की सिद्धि साधु शब्दों के प्रयोग, लिङ्ग-वचनादि की शुद्धता तथा याज्ञिक प्रसङ्ग के उचित ज्ञान पर निर्भर करती है। ऊहज्ञ व्यक्ति को आर्त्विज्यलाभ एवं ऐहिक सुख इत्यादि की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ -

1.अष्टाध्यायी,पाणिनि,सम्पादक ब्रह्मदत्त जिज्ञासु,रामलाल कपूर ट्रस्ट,सोनीपत,1955

2.काशिकावृत्ति,वामनज्यादित्यकृत,सम्पादक जयशंकर लाल त्रिपाठी एवं सुधाकर मालवीय, जिनेन्द्रबुद्धि विरिचत 'न्यास' व हरदत्त-मिश्रकृत 'पदमजञ्जरी' तथा जयशंकर लाल त्रिपाठी विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित। ताराबुक एजेन्सी, वाराणसी,1986

3.महाभाष्यम् - (क) पतञ्जलि विरचित(कैयटकृत 'प्रदीप' एवं नागेशभट्टकृत 'उद्द्योत' टीकाओं सहित),सम्पादक आचार्य वेदव्रत, (1-5 भाग),हरियाणा साहित्य संस्थान,गुरुकुल झज्जर(पाँच भागों में)1962-63

(ख)पतञ्जलि विरचित (कैयटकृत 'प्रदीप' एवं नागेशभट्टकृत 'उद्द्योत' व छाया टीकाओं सहित),टिप्पणियों एवं पाठभेद युक्त। निर्णय सागर प्रेस,संस्करण,प्रथम भाग,सम्पादक - भार्गव शास्त्री जोशी,2004

(ग)पतञ्जलि विरचित, हिन्दी व्याख्या सहित,प्रथम-खण्ड,पं. युधिष्ठिर मीमांसक,रामलाल कपूर ट्रस्ट,बहालगढ़,1992

(घ)पतञ्जलि विरचित, विद्यानिधिहिन्दीव्याख्या,प्रथम खण्ड रू प्रथम भाग, प्रोफेसर भीम सिंह वेदालंकार, विद्यानिधि शोध संस्थान, कुरुक्षेत्र,2006

(ङ)पतञ्जलि विरचित,पस्पशाह्निक, अनुवाद एवं उषा हिन्दी व्याख्या,रमण कुमार शर्मा,ईष्टर्न बुक लिंकर्स,दिल्ली,1982

4.सूक्तिरत्नाकर-शेषनारायणविरचित,सम्पादकवामनशास्त्री भागवत, प्रथम भाग,आनन्दआश्रम पुणे,1999

5.मीमांसा दर्शन(महर्षि जैमिनि-प्रवर्तित विचार शास्त्र का समालोचनात्मक अध्ययन,मण्डन मिश्र शास्त्री मीमांसाचार्य,रमेश बुक डिपो,जयपुर,1955

5.वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - भट्टोजिदीक्षित, डॉ.रामनारंग शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी-2007

4.आप्टे, वामन शिवराम, 1966 संस्कृत-हिन्दी-कोश मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।

5.पाठक,श्रीधरशास्त्री व सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, 1927, महाभाष्य-शब्दकोश, भण्डारकर ओरियएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।

पाद टिप्पणी

1 पाणिनीय धातुपाठ -648

2 (क) अध्याहारस्तर्कः ऊहो विचिकत्सा तु संशय - वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिंदी शब्दकोश

(ख)पूर्वाप्राप्तस्य अपूर्वात्प्रेक्षणम् - शब्दरत्नावली का उद्धरण -वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिंदी शब्दकोश

(ग)समवेतार्थपदत्यागपूर्वकसमवेतार्थकपदसमभिव्याहारकरणम् , साकांङ्क्ष-वाक्यस्य पदान्तरेण आकांङ्क्षापूर्णम् - श्राद्धतत्त्वटीका का उद्धरण,वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिंदी शब्दकोश

3 न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथम् विपरिणमयितव्याः। - पस्पशाह्निक,पातञ्जल महाभाष्यम् , पृष्ठ.22

4 मीमांसा कोश - 2694

5 महाभाष्यम्,पस्पशाह्निक, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ.8,9

6 कथं प्रकृतिविकृतिभाव अवगमः।- पस्पशाह्निक,छायाटीका, पृष्ठ. पृष्ठ.22

7 प्रकृतिविकृति अवगमश्च द्विदेवैत्यत्व एकदेवत्यत्व आदिसाम्येन बोध्यः । पस्पशाह्निक,छायाटीका,पृष्ठ.22

8 आग्नेयसौर्यागयोःप्रकृतिविकृतिभावावगमश्च एकदेवत्यत्व-औषधद्रव्यत्व-साम्येन च बोध्यः। दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजादीनाञ्च द्विदेवत्यत्व-पशुद्रव्यत्वसाम्येन च बोध्यः । - पस्पशाह्निक,छायाटीका , पृष्ठ.22

9 ऊहः खल्वपि । न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम् - पस्पशाह्निक,पातञ्जल महाभाष्यम् , पृष्ठ.22

10 तथा प्राग्वाक्यगतं व्याकरणशब्दं सविशेषणमिहानुषज्य षष्ठ्यन्ततया विपरिणमय्योहोऽप्यधीतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनमित्यर्थः संपद्यते । - पस्पशाह्निक,सूक्तिरत्नाकरटीका, पृष्ठ.32

11 न च रक्षोहेत्यत्रानुषक्तस्य षष्ठ्यन्तस्य पदस्यैवानुषङ्गो युक्तः, रक्षार्थ-मिति वाक्येऽनुषङ्गाभावात्। तर्हि प्रयोजनपदमपीह नानुषज्येत । - पस्पशाह्निक,सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ. 32

12 सत्यम्।तथाप्यश्रुतमध्याहरणीयमिति वदन्ति। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्ना-करटीका,पृष्ठ.33

13 व्रीह्यादिद्रव्यसंबन्धिनोऽवघातादेन वारादिसंबन्धलक्षणसंस्कारोहे यद्यपि नोपयोगस्तथापि मन्त्रोह उपयोग इति दर्शयितुं मन्त्रा इत्युक्तम्। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.37

14 (क) ननु प्रकृतिविकृतिविभागज्ञानं प्रकृतौ द्रव्यदेवतादिज्ञानं विकृतावपि द्रव्यदेवता ज्ञानं प्रकृतौ मन्त्रादीनामपूर्व प्रयुक्तत्त्व ज्ञानमूह्यानूह्य विभागज्ञानं च यस्य, तस्य लोकवेदसिद्धप्रयोगादेव विना व्याकरण-मूहसिद्धेर्न स तस्य प्रयोजनम्। -पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका, पृष्ठ.36

(ख) ननूह्यमानपदानां वेदादेवोद्धृत्य प्रयोगो भविष्यति, किं व्याकरणेन - पस्पशाह्निक,छायाटीका , पृष्ठ.22

15 एतावत्यन्यतो यस्य विना व्याकरणान्मतिः। जायेत स कथं तत्र पदं योग्यं न लप्स्यते ।। - सूक्तिरत्नाकरटीका में उद्धृत कुमारिल भट्ट का मत , पृष्ठ.36

16 ऊहार्थमपि शब्दानां न व्याकरणमर्थवत्। ऊहस्याप्यन्यतः सिद्धेरूह्या-नूह्यविभागवत् ।। -सूक्तिरत्नाकर में उद्धृत कुमारिल भट्ट का मत, पृष्ठ.36

17 एतन्मन्त्रोहसामग्रीक्लेशो व्याकरणेऽस्ति किम् । असमीक्ष्य यदत्रोक्तं शब्दैरूहः प्रयोजनम् ।। - सूक्तिरत्नाकरटीका में उद्धृत ऊह के आशयज्ञ का मत, पृष्ठ.36

18 शतपथ ब्राह्मण - 1-2-2-15

19 इति चेत् अत्र वदन्ति -साधूनेव प्रयुञ्जीतेति नियमेनासाधोरप्रयोगात् साध्वसाधुविभाग ज्ञानसाधनं व्याकरणम्। तमन्तरेण च मा 'भैर्या संविक्था' इति पुरोडाशावदानमन्त्रस्य धानासु विनियोगे 'मा भैष्ट मा संविग्ध्वम्' इत्यादिप्रयोगाणामूहस्य 'देवीरापः शुद्धाः स्थ' इत्यप्सु विनियुक्तस्य मन्त्रस्याज्यविनियोगे 'देवाज्य शुद्धमसि' इत्येवमूहस्य प्रकृतिप्रत्यय-लिङ्गाद्यनभिज्ञेन कर्तुमशक्यत्वात्,स तस्य प्रयोजनमेवेति दिगिति । - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका, पृष्ठ.37

20 पस्पशाह्निक, पातञ्जल महाभाष्य ,पृष्ठ.22

21 (क) अत उक्तं 'तान्नावैयाकरणः' इति । यथा प्रत्यक्षश्रुतिमूलमपि स्मृतिः प्रमाणं धर्मावगमे, तथा व्याकरणमप्यूहेऽर्थवदिति भावः। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका ,पृष्ठ.37

(ख) अत आह -तान्नावैयेति यथा प्रत्यक्षश्रुतिमूलमपि स्मृतिप्रणयनं धर्मावगमे प्रमाणम्, एवं व्याकरणमप्यूहे इति भावः। - छायाटीका,पृष्ठ-22

[22] मन्त्राणामपूर्वप्रयुक्तत्वेऽपि प्रकृतौ पदस्वरूपस्य विवक्षितत्वादतिदेशेन तादृशस्यैव प्राप्तत्वाद् विवक्षितस्वरूपेणाग्न्यादिपदेन गौण्या वृत्त्या वैकृतदेवतादिप्रकाशकत्व संभवान्नोहः, तथापि पूर्वोक्तयुक्त्या प्रकृतावपि मन्त्राणामर्थप्रकाशनोद्देशेनैव विहितानां स्वरूपादरेणार्थप्रकाशननिरपेक्षत्वासंभवाद् वैकृते च पदार्थ प्राकृतमन्त्रपदानांप्रकाशनाख्य-कार्याभावात् तत्समर्थशब्दोच्चारणलक्षण ऊहः संभवतीत्यभिप्रेत्य 'यथायथम्' इत्युक्तम् । - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ. 37

[23] यद्वा प्रकृतौ मुख्यार्थामुख्यार्थादिभेदेनोहो न तु यथाकथंचिदिति दर्शयितुं यथायथमित्युक्तम् । - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.37

[24] न मन्त्रत्वमिति। 'अनाम्नाताः अमन्त्राः' इत्याद्यापस्तम्बाद्युक्तेरिति भावः। - पस्पशाह्निक,छायाटीका ,पृष्ठ.23

[25] (क) जैमिनि - 2.1.34

(ख) तथा च जैमिनिः 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम्' इति चेत्, सत्यमेतत्। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.38

[26] अत्रेदं चिन्त्यते-एकोऽनवयवः स्फोट आम्नातः प्राकृतो यथा ।
वैकृतस्यानधीतस्य स्यात् तदा केन मन्त्रता ।।
अमन्त्रस्य च वेदत्वं नास्तीतिच्छान्दसो विधिः । -
पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका , पृष्ठ.38

[27] पस्पशाह्निक,छायाटीका , पृष्ठ.23

[28] यद्यप्यूहे न मन्त्रत्वं,तथाप्येकदेशस्योहेऽपि अनेकपदसमुदायेमंत्रत्वप्रत्यभिज्ञानात्तद्घटिते समुदाये मन्त्रत्व व्यवहारः,कर्मणः साङ्गत्वं चेति बोध्यम्। - पस्पशाह्निक,उद्द्योत , पृष्ठ. 23

[29] अवयवाधिक्यविनाशेऽपि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञावदत्राप्येकपदत्यागे पदान्तरप्रक्षेपेऽप्यध्ययनकालावगतानेकपदसमभिव्याहारेण मन्त्ररूपप्रत्यभिज्ञानात् प्रक्षिप्तपदमात्रस्यैवामन्त्रत्वं, न तु सर्वस्येति सिद्धान्ताद् वेदत्वमपि तथैवेति न यागादिषु प्रयोगानुपपत्तिः। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.38

[30] एकदेशस्यानुपकारान्नानुवृत्तिरित्यत्र कैयटेन सम्यक् तत्वोपपादनाय दत्तमुदाहरणमुपपादयंस्तमवतारयति। पस्पशाह्निक,छायाटीका,पृष्ठ.23

[31] तैत्तिरीय संहिता -1.1.4

[32] तत्र अग्निसंबन्धिनिर्वापप्रकाशमन्त्रस्थाग्निपदस्य-सूर्यसंबन्धिनिर्वापप्रकाशनासमर्थत्वात्तदपहाय तत्स्थाने 'सूर्याय' इत्यूह्यम्। - पस्पशाह्निक, उद्द्योतटीका,पृष्ठ.23

[33] यस्य त्वेकदेशमात्रस्याभिधेयं नास्ति तस्य तावानेवांशो निवर्तते, इतरस्त्वनुवर्तते, यथा 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति देवताभिधाय्यग्निपदं सौर्यादौ निवर्तते, अन्यस्त्वनुवर्तत एव। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.33

[34] (क)इकारान्तेष्वेवैकारस्य संप्रदानाभिधानसमर्थत्वादग्निशब्दनिवृत्तौ तस्यापि निवृत्तेः। ऊह्यमाने तु देवताभिधायिसूर्यपदेऽकारान्तेषु संप्रदानस्य यकारवाच्यत्वात् संप्रदानविभक्त्यन्तं सूर्यायेत्यूह्यते। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.34

(ख)न च संप्रदानत्वाभिधायिविभक्तेरेकारस्यालुप्तद्वारत्वादवस्थानप्रसङ्गः - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.33

[35] (क) तथा च तद्घटितदृश्यमानं रूपमेव समुदितं समुदितस्थाने ऊह्यते। - पस्पशाह्निक,छायाटीका,पृष्ठ.23

(ख)तदपहाय तत्स्थाने सूर्याय इत्यूह्यम्।- पस्पशाह्निक, छायाटीका, पृष्ठ.

[36] सोऽयं प्रकृत्यूहः। - पस्पशाह्निक, उद्द्योतटीका,पृष्ठ.23

[37] एकाररूप प्रत्ययोहस्तु नान्तरीयकः ,तदर्थस्याबाधात्। एतेन 'सोऽयमुभयोहः' इति कृष्णोक्तमपास्तम्। - पस्पशाह्निक,छायाटीका,पृष्ठ.23

[38] यजुर्वेद - 6।13

[39] वचनोहोऽप्ययम् आप इत्येवंपरसंख्यारोपकृतबहुवचनसत्वात्। -
पस्पशाह्निक,छायाटीका,पृष्ठ.23

[40] सोमक्रयसाधनैकहायनीयप्रकाशके 'वस्वसि रुद्रास्यदितिरस्यादित्यासि शुक्रासि चन्द्रासि' इति स्त्रीलिङ्गपदवति मन्त्रे साद्यस्क्रेषु सोमयागप्रकृतिकेषु प्रत्यक्षोपदिष्टक्रयसाधनसाण्डप्रकाशनाय प्राप्ते 'वसुरसि रुद्रोऽसि' इत्यादिपुंलिङ्गप्रकाशकः प्रत्ययविशेषः क्वचित् ऊह्यते । - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.35

[41] तैत्तिरीय ब्राह्मण - 3-6-1-8

[42] अग्नीषोमीययागप्रकरणे पठितस्य छागस्य वपाया मेधसोऽनुब्रूहि इति मन्त्रस्यानेकपशुकेऽग्नीषोमीय यागप्रकृतिकेऽतिदेश प्राप्तस्यै कवचनान्तच्छागपदवत्तयानेकपशुप्रकाशनासामथ्याच्छागानामिति बहुवचनमूह्यते। तथाग्नेयप्रकृतिके वैश्वदेवयागेऽग्निमन्त्रप्राप्तौ विश्वेभ्यो देवेभ्यः इति प्रकृतिवचनयोरूहः। - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.35

[43] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र- 1.21.7

[44] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र -1.19.10

[45] तत्रापि च यस्य मन्त्रस्य प्रकृतौ यदभिधेयं तद्यत्र विकृतौ साकल्येन नास्ति, तस्य सर्वस्यापि निवृत्तिः । यथा कृष्णलेष्ववघातमन्त्रस्य 'अवहतं रक्षो दिवः सपत्नं वध्यासम्' इति । - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.33

[46] ये तु प्रकृतावप्यमुख्यार्थाः, तेषां प्रकृतिवद् विकृतावपि गुणवादेन सामर्थ्यादविकृतप्रयोगः। यथा ज्योतिष्टोमे एकहायन्यां मन्त्रः- 'इयं गौस्तया ते क्रीणामि तस्यै शृतं तस्यै शरः' इत्यादि, तत्रैकहायनीत्वादसंभवेऽपि शृतादीनां कालान्तरभावितया गुणवादेन स्तुत्यर्थमुपादानम् । साद्यस्क्रे साण्डस्त्रिवर्षः सोमक्रयणः। तत्राप्यण्डं जनिष्यमाणे गवि संभाविनां शृतादीनां स्तुत्यर्थमुपादानसंभवादविकृतप्रयोगः - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.35

[47] येषां च स्वार्थप्राधान्येन नोपादानं तेषामप्यनूहः । यथा 'इमं यज्ञमवान्येव यज्ञपतिं वर्धान्' इत्यत्र ये यज्ञपतिं वर्धयन्ति त उपहूता इत्यन्योपहवार्थं प्रकृतावुपात्तस्य यज्ञपतिशब्दस्य सत्रेषु यज्ञपतिबहुत्वेऽप्यनूहः - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.35

[48] तथा 'देवस्य त्वा' इत्यत्र सवित्रादीनां कर्मण्यसमवायात् प्रकृतावप्यदृष्टार्थमेवोपादानम्। न च मान्त्रवर्णिकदेवता-कल्पना, परार्थ-मेवोपात्तत्वात्। तेन विकृतावपि प्रकृतिवद समवेताभिधान संभवादनूहः सवित्रादेः - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.35,36

[49] तथा 'अन्वेनं माता मन्यतामनु पिता' यहाँ मातृपितृ शब्दों का बहुषु पशुषु । 'न माता वर्धतां न पिता' ऐसे ऊह के निषेध से अनूह है । तथा 'उदीचीनामस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयतात्' इत्यस्य वाजपेये बहुषु पशुषु पशूनामूहे तत्संबधितयैव चक्षुरादिबहुत्वप्रतीतेश्चक्षुरादेरनूह एव - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.36

[50] मैत्रायणी संहिता-4-13-4

[51] तथा 'श्येनमस्य वक्षः कृणुतात्' (मै 4-23-4) इति श्येनस्याविकृतस्यैवोपमानत्वप्रसिद्धेरनूहः - पस्पशाह्निक, सूक्तिरत्नाकरटीका,पृष्ठ.36

[52] तदाह हरिः - 'अङ्गानि ज्ञातिनामानि उपमा चेन्द्रियाणि च। एतानि नोहं गच्छन्ति अध्रिगौ विषमं हि तत् ।।' - सूक्तिरत्नाकर में उद्धृत स्वोपज्ञ वृत्ति का उदाहरण,पृष्ठ.36

[53] सूक्तिरत्नाकर में उद्धृत कुमारिल भट्ट का मत,पृष्ठ.36

[54] सूक्तिरत्नाकर में उद्धृत कार्यापत्ति का उदाहरण,पृष्ठ.36

[55] ऊहज्ञस्य हि आर्त्विज्यलाभेन द्रव्यप्राप्तिद्वारा ऐहिक सुखसिद्धिः फलमिति बोध्यम्। - पस्पशाह्निक,उद्द्योतटीका,पृष्ठ.23

[56] हिश्चार्थे सिद्धिपदोत्तरं योज्यः ॥ तेन प्रागुक्तरीत्या स्वर्गसुखादिसमुच्चयः। अनेनैवंरीत्या पूर्वत्राप्यैहिकसुखसिद्धेः फलत्वं सूचितमिति बोध्यम्॥ तावताप्युक्तरीत्या तत्र साक्षात्त्वस्य बाधितत्वात्कैयटोक्तं पारम्पर्यमविरुद्धम् - पस्पशाह्निक,छायाटीका,पृष्ठ. 23